बिहार सरकार द्वारा सभी शिक्षण-संस्थाओं के लिये स्वीकृत ।

शान्ति सन्देश

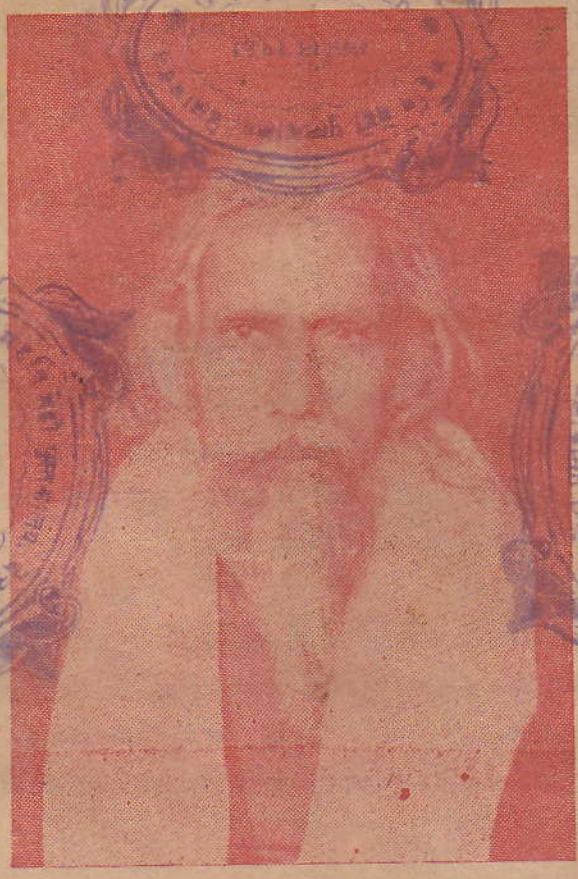

संरक्षक
श्री हुलासचन्द्र रूंगटा

प्रधान सम्पादक
डा० माहेश्वरी सिंह 'महेश' एम० ए०
पी-एच० डी० (लन्दन)

सम्पादक एवं व्यवस्थापक
श्री उदितनारायण चौधरी

सह सम्पादक—आनन्द

वार्षिक मूल्य ४) जनवरी १९६१ ई० प्रति अङ्क ।=)

प्राप्तिस्थान—व्यवस्थापक, शान्ति-सन्देश-कार्यालय, पो० झण्डापुर, भागलपुर ।

विषय-सूची

क्रमांक	विषय	लेखक	पृष्ठ
१	संत-वाणी का अर्थ	महर्षि मेँहीँ परमहंस	१
२	सत्संग-सुधा	" "	२
३	मोरे जियरा बड़ा अन्देशवा मुसाफिर जैहों कौनी ओर—	सन्तसेवी	७
४	शान्ति का विवेचन	रामलाल पहाड़ा	६
५	हमारा एक महान् दुर्गुण अभिमान	अगरचन्द नाहटा	१०
६	आत्म-निवेदन-रहस्य	सम्पादकीय	१३

क्षमा-याचना

अभिनन्दन ग्रन्थ की शीघ्र छपाई, समर्पण-व्यवस्था तथा वार्षिक अधिवेशन के कारण फरवरी तक "शान्ति-सन्देश" का मुद्रण नहीं हो सका। तदुपरान्त मास-ध्यान-साधना एवं संथाल परगना, भागलपुर, सहर्षा, मुंगेर एवं पूर्णियां जिला के वार्षिक अधिवेशन में व्यस्त होने के कारण अप्रेल मास के अन्तिम सप्ताह में पूज्यपाद महर्षि जी का लिखित प्रवचन प्राप्त किया जा सका। बिजली नहीं मिलने के कारण २० मई तक प्रेस ने मुद्रण कार्य में अपनी असमर्थता प्रगट की। तदुपरान्त यह अंक आप सत्संग प्रेमी सदात्माओं के समक्ष उपस्थित कर हम क्षमा-याचना सहित क्रमशः सभी अंक मुद्रित करा आपकी सेवा में प्रेषित करने का प्रयत्न कर रहे हैं। हमारी लाचारी समझ कर अपनी सद्भावना "शान्ति-सन्देश" को प्रदान करने की उदारता दर्शावें।

विनीत—

उदित नारायण चौधरी

व्यवस्थापक—"शान्ति-सन्देश"

Satyadeo Sah "Santrasu"
VILL. BELABADAN, P.O. PIPARA
(PURNEA)

शान्ति-सन्देश

वर्ष—६ जनवरी १९६१ ई० अंक—१

सन्त-वाणी का अर्थ

संत गरीबदास जी की वाणी

व्याख्याकार—महर्षि मेँहीँ परमहंस जी महाराज

* मूल पद्य *

तन खोजै तब पावै रे।
उलटी चाल चलै जे प्राणी, सो सहजै घर आवै रे॥ टेक॥
बारह मारग बहता रोकै, तेरह ताली लावे रे।
चन्द सूर सहजै सत राखै, अनहद वेण बजावे रे॥ १॥
तिन्नू गुण चौथे घर राखै, पाँच पचीस समावे रे।
नऊ निरति सूँ और बहत्तर, रोम-रोम धुनि धावे रे॥ २॥
मैल निर्मल करे ज्ञान सौ, सतगुरु कहि समझावे रे।
"गरीबदास" अनभै घर उपजै, तब जाइ जोति लखावे रे॥ ३॥

अर्थ—जब कोई अपने शरीर को खोजे, तब ईश्वर को पावै। जो प्राणी उल्टी चाल चलै* सो सहज ही में घर आवै बारह पथ() होकर बहती हुई चेतन धार को रोक दे और तेरहवें में ताली लगा दे। अर्थात्

---

* बहिर्मुख में अँतर्मुख होकर—स्थूल में सूक्ष्म में—पिंड से ब्रह्माण्ड में गति।

() पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँच कर्मेन्द्रियों में चेतन धार का बहाव-पथ दश मार्ग और नासिका के दोनों पुटों में होकर श्वास का बहाव-पथ—दो मार्ग, सब मिलाकर बारह पथ को ध्यान-अभ्यास से रोका जाता है।

महर्षि मेँ हीँ परमहंसजी महाराज

प्यारे धर्मानुरागी महाशयो एवं सत्संगियो !

मैं अपनी ओर से कुछ सुनाऊँ, ऐसा नहीं। मैंने गुरु महाराज से शिक्षा पाई है कि जहाँ रहो, सत्संग करो और सन्तवाणी का सहारा लो। सन्तों की वाणी का सहारा लिये बिना मैं कुछ नहीं कह सकता।

"नित सत्संगति करो बनाई। अन्तर बाहर द्वै विधि भाई॥
धर्म कथा बाहर सत्संगा। अन्तर सत्संग ध्यान अभंगा॥"

बाह्य और आन्तर दोनों तरह का सत्संग करो। गुरु की दीक्षा के अनुकूल एकान्त में बैठ कर उपासना करो—यह आन्तर सत्संग है और बाहर में सन्तों के सद्ज्ञान का श्रवण करो, यह बाहर का सत्संग है। सन्त कोई साधारण नहीं होते पूर्ण होते हैं। पूर्ण मनुष्य पूर्ण मनुष्यता के अन्दर रहते हुए पूर्ण ज्ञानी, पूर्ण ध्यानी तथा अध्यात्म विषयक ज्ञान की कोई कमी न हो, ऐसे महापुरुष सन्त होते हैं। उपनिषद् में कहा गया है कि सन्त वही है, जिनमें ये गुण हों।

"भिद्यते हृदयग्रन्थिरिश्छद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टि परावरे॥"
—योगशिखोपनिषद्, अध्याय ५

"अर्थात् उस परे से परे ब्रह्म को देख लेने पर हृदय की ग्रन्थि टूट जाती है, सभी संशय छिन्न—नाश हो जाते हैं और सभी कर्म नष्ट हो जाते हैं।"

साधारण लोग इन बातों को नहीं जानते। पढ़-लिखे-सत्संग किये जन जानते हैं कि शरीर में जड़-चेतन की ग्रन्थि है। तुम चेतन हो। चेतन ज्ञानमयी शक्ति है। यह अज्ञानमय तत्त्व में ऐसे समाया हुआ है जैसे दूध में घी। जैसे दूध से घी अलग किया जा सकता है, उसी तरह चेतन आत्मा को शरीर से निकाला जा सकता है। जिसको ऐसा हो गया है, जिसको अपनी निश्चित केवल बौद्धिक विचार नहीं, वरन् प्रत्यक्षानुभूति है, वे ही सन्त हैं। जो ऐसे हैं, उनमें क्या त्रुटि हो सकती है? जो नहीं जानते हैं, वे ही त्रुटि बता सकते हैं। हमारे बीच में कोई सन्त हैं—इसकी पहचान बहुत कठिन है।

सत्संग कहते हैं, सद्ज्ञान के संग को। सन्तों का कहा हुआ उनके ग्रन्थ में हो, चाहे वह भारती भाषा में हो या संस्कृत में। भारती भाषा को ही आप हिन्दी कहते हैं। हमारे लिये हिन्दी शब्द अच्छा नहीं। मैं अपनी सरकार से निवेदन करता हूँ कि वे राष्ट्र भाषा का हिन्दी नाम उड़ा दें। यह शब्द, उच्चता को बहुत गिरा देने वाला है। हिन्दी, हिन्दू और हिन्दुस्तान, ये शब्द अच्छे नहीं। हिन्दुओं के रहने के स्थान का नाम हिन्दुस्तान और उनकी भाषा का नाम हिन्दी। हिन्दुस्तान को हँटा कर भारत किया गया, यह बहुत अच्छी बात! लेकिन 'हिन्दी" कैसे रख लिया गया! ताज्जुब है! हमारी भाषा का यह शब्द नहीं है। इसका अर्थ है—चोर, लुटेरा, लामजहब आदि। यह शब्द यदि संस्कृत होता और प्राचीन काल से अपने देश में आदरणीय रहता तो पुरोहितगण यजमानों को "जम्बूद्वीपे आर्य्यावर्ते भरतखण्डे के पढ़ाने की जगह "हिन्दुस्ताने" पढ़ाते। गीता वा बौद्धग्रन्थों में कहीं भी 'हिन्दू' कह कर आर्य या भारतवासी को नहीं जनाया गया है, लेकिन लोग अब उसे संस्कृत बनाना चाहते हैं।

अभी आपने सन्त कबीर साहब की वाणी सुनी।

"बिनु सतगुरु नर रहत भुलाना।
खोजत फिरत राह नहिं जाना॥

केहरिसुत ले आयो गड़रिया पाल पोस उन कीन्ह सयाना।
करत कलोल रहत अजयन संग, आपन मरम उनहुँ नहिं जाना॥
केहर इक जंगल से आयो, ताहि देख बहुतै रिसियाना।
पकड़ि के भेद तुरत समझाया, आपन दशा देखि मुसक्याना॥
जस कुरंग बिच बसत वासना, खोजत मूढ़ फिरत चौगाना।
कर उसवास मनै में देखै, यह सुगन्धि धौं कहाँ बसाना॥
अर्ध ऊर्ध बिच लगन लगी है, छक्यो रूप नहिं जात बखाना।
कहै कबीर सुनो भाई साधो, उलटि आप में आप समाना॥

बिना सद्गुरु के नर भूले रहते है, यह सभी कोई जानते हैं। इस पद्य में एक कहानी है:—

एक गड़ेरिया ने जंगल से एक सिंह का बच्चा लाया। उसे भेड़-बकरियों के संग में ही पाला पोसा। एक दिन गड़ेरिया भेड़-बकरियों के साथ उसे भी चराने ले गया। जंगल से एक सिंह आया और उस सिंह को भेड़-बकरियों के बीच देखकर बड़ा क्रोधित हुआ। उस जंगली सिंह ने भेड़ बकरियों के साथ भागते हुए उस पालतू सिंह को पकड़ लिया और उसे नदी किनारे ले जाकर पानी में अपने रूप का ज्ञान कराया। कहा—"देखो, जैसा मेरा रूप है, वैसा ही तुम्हारा भी रूप है। जो मैं हूँ, वही तुम हो। तुम भेड़ और बकरे नहीं, वरन् सिंह के बच्चे सिंह हो।"

अपने रूप का ज्ञान पाकर वह भी सिंह की भाँति दहाड़ने लगा।

इस कथा को कह कर कबीर साहब बताते हैं कि तुम ईश्वर रूप सिंह का बच्चा मन रूप गड़ेरिये के अधीन हो, इन्द्रिय रूप भेड़-बकरों के साथ रहते-रहते अपने स्वरूप को भूल गये हो। यदि तुमको सद्गुरु मिल जायँ तो वे तुम्हें अपने स्वरूप का ज्ञान करा दें। लेकिन अपने स्वरूप-ज्ञान के लिये कहीं से कुछ लाना होगा? नहीं, वह साधन तुम्हारे साथ ही है, जैसे मृगा के साथ में कस्तूरी है। उसी तरह जिस साधन से तुम अपने को पहचानोगे, वह तुम्हारे साथ है, लेकिन तुम मृगा की तरह बाहर-बाहर ढूँढ़ते हो। उसका यत्न बताते हैं—"अर्ध ऊर्ध बिच लगन लगी है, छक्यो रूप नहिं जात बखाना। कहै कबीर सुनो भाई साधो, उलटि आप में आप समाना॥" "अर्ध" अधः शब्द का अपभ्रंश है, जैसे सगुण का अपभ्रंश "सर्गुण" हुआ है। ऐसा सूरदास एवं तुलसीदास जी के वचन में नहीं है। ये लोग पण्डित थे, लेकिन जो पण्डित नहीं थे, उन सन्तों की वाणियों में है। अधः ऊर्ध्व कहते हैं पिण्ड-ब्रह्माण्ड, नीचे-ऊपर और स्थूल-सूक्ष्म को। इनके सन्धि-स्थान को देखो। शिर को लोग ब्रह्माण्ड कहते है। शिर का नीचा भाग आँख से मिला है। आँख से ऊपर का भाग ब्रह्माण्ड और नीचे का भाग पिण्ड है। इस ऊपर और नीचे के मध्य में देखे तो सूक्ष्मता दीख पड़ेगी। इसमें भी दो भेद है—एक अन्धकारमय स्थान और दूसरा प्रकाशमय स्थान। इन दोनों के बीच में देखो। लेकिन इतना कहने पर भी भेद बाकी बच जाता है। इसकी पूरी जानकारी तभी होगी, जब कोई सद्गुरु के आश्रित होते हैं। सभा में यह कहने की बात नहीं है, एकान्त में कहने की है। एकान्त में कहने की जगह कुछ लोग अब कान फूँकने लग गये हैं और कान में क्या कहना है, इसको वे भूल गये हैं। ऐसे भी महात्मा हैं, जो कान फूँकते हैं और दक्षिणा लेते हैं।

जो अर्ध-उर्ध के बीच में देखेगा वह शिवनेत्र और सहस्रार का प्रत्यक्ष बोध करेगा। इसमें आगे बढ़ते-बढ़ते सहारा मिलेगा। साधन की सद्युक्ति सद्गुरु से प्राप्त कर सकते हैं और आगे बढ़ने के लिये उसका सहारा ईश्वर देते हैं। जैसे बिना हवा के हम नहीं रह सकते—हवा सहारा है, उसी तरह अन्दर में ईश्वर सहारा देते हैं। गुरु नानकदेव जी के वचन में सुना :—

"घर महि घर देखाइ दे, सो सतगुरु परख सुजाणु।
पंच शबदु धुनिकार धुनि, तह बाजे गगन निसाणु॥
दीप लोअ पाताल तह, खण्ड मण्डल हैरानु।
तार घोर वाजीन्त्र तह, साचि तखति सुलतानु॥
सुखमन कै घरि राग सुनि, सुन मण्डल लिव लाइ।
अकथ कथा वीचारिअै, मनसा मनहिं समाइ॥
उलटि कमलु अंम्रिति भरिआ, इहु मन कतहु न जाइ।
अजपा जाप न बीसरै, आदि जुगादि समाइ॥
सभि सखिया पंचै मिलै, गुरुमुखि निज घरि वासु।
शबद खोजि इहु घरु लहै 'नानक' ताका दासु॥

अपने घर वा मन्दिर में पैठने के लिये जो यत्न बता दे, वह गुरु है। उस घर में पैठने के लिये सहारा लो। सहारा क्या है? तो कहा—"पंच शबद धुनकार धुनि तह बाजे गगन निसाणु।" लेकिन इस शब्द को कैसे पकड़े?

तो कहा—सुखमन के घरि राग सुनि, सुन मंडल लिव लाइ।"

शून्यमण्डल में लौ लगा कर रहो सुन्दरदास जी के शब्द में सुना—"

"गुरु के प्रसाद बुद्धि उत्तम दशा को गहै;
गुरु के प्रसाद भव दुख बिसराइये।
गुरु के प्रसाद प्रेम प्रीतिहु अधिक बाढ़ै,
गुरु के प्रसाद रामनाम गुण गाइये॥
गुरु के प्रसाद सब जोग की जुगति जानै,
गुरु के प्रसाद शून्य में समाधि लाइये।
सुन्दर कहत गुरुदेव जू कृपालु होइ,
तिनके प्रसाद तत्त्वज्ञान पुनि पाइये॥

कैसे' "शून्य में समाधि लाइये", यह गुरु-गम्य है। तीन सन्तों के वचनों में जो पाठ हुआ, उनमें गुरु की महिमा है। दूसरी बात है अपने को और ईश्वर को अपने अन्दर खोजो। उसकी युक्ति प्राप्त करो और उसका साक्षात् करो।

अभी आप अपने को मन के वश में पाते हो, लेकिन अभ्यास करो तो मन आपके वश में हो जायगा। हमलोग हाथी-घोड़े के बराबर बड़े शरीर वाले जीव नहीं हैं, लेकिन हाथी, घोड़े सिंह आदि को लोग काबू करके लोग सरकस में नचाते हैं। मनुष्य शरीर में शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक सभी शक्तियाँ होती हैं। यहाँ तक कहा गया है कि यह शरीर देवताओं को भी दुर्लभ है।

"बड़े भाग मानुष तनु पावा।
सुर दुर्लभ सब ग्रन्थहि गावा॥"
—रामचरितमानस

हमको चेतना चाहिये, हमको विकारों से बचना चाहिये। बैल की तरह नहीं होना चाहिये। बैल की तरह क्या होता है? जैसे बैल जो एक खेत को खाता है उसको मार लगती है फिर वह उसी खेत में जाता है। उसी तरह जिस काम से हमको हानि होती है, पुनः उसी काम को हम करने दौड़ते हैं। काम के अधीन होकर हम गधे से भी आगे बढ़ जाते हैं। हमको चाहिये कि हम मनुष्य बनें। तब मन और इन्द्रियाँ बेकाबू नहीं रह सकतीं। आत्मा के नियन्त्रण में बुद्धि, बुद्धि के नियन्त्रण में मन और मन के नियन्त्रण में इन्द्रियाँ रहेंगी। हमको चाहिये कि हम सत्संग करें, सन्तों की वाणियों-सदुपदेशों के अनुकूल चलने का यत्न करें। इसके लिये जितना हम धन पाने के वास्ते चेष्टा करते हैं, उससे अधिक चेष्टा करनी चाहिये। ईश्वररूपी केन्द्र तक पहुँचने के लिये हमको चेष्टा करनी चाहिये। जो कर्म ईश्वर से सम्बन्ध नहीं रखता, उससे लाभ नहीं। ईश्वर स्वरूपतः क्या है? इसको जानिये। स्वरूपतः ईश्वर वैसा नहीं, जैसा हम संसार में देखते हैं। संसार में परिवर्तनशील पदार्थों को हम देखते हैं। ईश्वर अपरिवर्त्तनशील और अकम्प है। इस संसार को जिन इन्द्रियों से हम जानते हैं, उनसे ईश्वर को जानें यह असम्भव है। ईश्वर इन्द्रियों के ज्ञान से बाहर हैं। इन्द्रियों से जो कुछ जानते हैं, वह माया है। "गो गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानहु भाई॥" ईश्वर मन-बुद्धि से परे हैं।

"राम स्वरूप तुम्हार, वचन अगोचर बुद्धि पर।
अविगत अकथ अपार, नेति-नेति नित निगम कहा॥"

"व्यापक व्याप्य अखण्ड अनन्ता।
अखिल अमोघ शक्ति भगवन्ता॥"
—गोस्वामी तुलसीदास

"अलख अपार अगम अगोचरि, ना तिसु काल न करमा।
जाति अजाति अजोनी सम्भव ना तिसु भाव न भरमा॥
"साचे सचियार विटहु कुरबानु।
ना तिसु रूप वरन नहि रेखिया, साचे शबद निसाणु॥"
—गुरु नानक,

"अरूप अखण्डित व्यापी चैतन्यश्चैतन्य
ऊपर नीचे आगे पीछे दाहिन बायें अनन्य।
बड़ा ते बड़ा छोट ते छोटा, मीहीं ते सब लेखा।
सबके मध्य निरन्तर साईं, दृष्टि दृष्टि सों देखा॥
चाम चश्म से नजर न आवै, खोज रूह की नैना।
चून चगून बजूद न मानु, तैं शुभा नमूना ऐना॥"
—कबीर साहब

मतलब यह कि ईश्वर इन्द्रिय-ज्ञान से परे है। गीता-उपनिषद् पढ़िये वेदपाठ कीजिये। ईश्वर-सम्बन्ध में यही ज्ञान होता है कि वह इन्द्रियातीत है। तब लोगों के मन में प्रश्न होता है कि जो अव्यक्त है—इन्द्रियातीत है, उसमें हम अपना मन कैसे लगावें? तो इसपर हमएक कहानी कहते हैं :-

सोना के सम्बन्ध में युधिष्ठिर ने सुना। उन्होंने पहले देखा नहीं था। व्यासदेव जी के वचन में उन्होंने विश्वास किया, तो जो धन अव्यक्त था, कोशिश करने पर वह धन व्यक्त हो गया और युधिष्ठिर ने उस धन से अश्वमेध यज्ञ किया। इसी तरह अव्यक्त में भी लौ लगाया जाता है। अव्यक्त में कैसे मन लगाया जाता है, उसे अव्यक्त के उपदेश देनेवाले से पूछो। वह परमात्मा सर्वोत्कृष्ट तत्त्व है। उससे पहले का कुछ नहीं है। वह निराधार है। उसके लिये वायु मण्डल, आकाश मण्डल, प्रकृति मण्डल कुछ नहीं चाहिये। वह अपने पर आप अवलम्बित है। वह आदि, अन्त और सीमा-रहित है। वह केन्द्र ही केन्द्र है—परिधि से सीमित नहीं—ऐसा वह ईश्वर है। जीव को केन्द्र और परिधि दोनों है। उसी ईश्वर के अन्दर सारी सृष्टि है। सब में वह ईश्वर है और उस ईश्वर में सब है। वह सब शरीरों में है। गो० तुलसीदास जी ने कहा है—

"अचर चर रूप हरि सर्वगत सर्वदा,
बसत इति वासना धूप दीजै।"
"देशकाल दिशि विदिसहुँ माहीं।
कहहु सो कहाँ जहाँ प्रभु नाहीं॥"

वह ईश्वर है सर्वत्र, लेकिन आप उसे पहचान नहीं सकते। इसलिये कि आप पंच ज्ञानेन्द्रियों से पंच विषयों के अतिरिक्त और कुछ जान नहीं सकते। "सबकी दृष्टि पड़े अविनाशी, विरले सन्त पिछाने। कह कबीर यह भरम किवाड़ो, जो खोलै सो जानै।"—कबीर साहब। भरम माया को कहा। आपकी वृत्ति जबतक बाहर की ओर रहेगी तबतक ईश्वर-दर्शन नहीं हो सकता। आप जब अपने अन्दर प्रवेश करें, तब दर्शन कर सकते हैं। पैर तो बाहर में ही छूट जाता है। पहले मन चलता है और पीछे मन भी छूट जाता है। तब आप स्वयं अकेले ही रहते हैं। इस शरीर के अन्दर सन्तों ने बहुत कुछ बताया है, लेकिन याद रखने योग्य है—चार चीजें। आँख बन्द कीजिये और देखिये। ख्याली बात नहीं, प्रत्यक्ष देखिये। अन्दर देखने में सबसे पहले अन्धकार दीखेगा। अन्धकार का अन्त अन्दर में होता है, तब उसके बाद प्रकाश आता है। तीसरा दर्जा है, अन्धकार-प्रकाश के परे शब्दमण्डल। जो सूक्ष्म होता है, वह अपने से स्थूल में स्वाभाविक ही व्यापक होता है। इसलिये शब्द, अन्धकार और प्रकाश दोनों में व्यापक है। शब्द के परे अनाम है।

"एक अरूप अनीह अनामा।
अज सच्चिदानन्द परधामा॥"

यदि विश्वास हो तो युधिष्ठिर की तरह चलो।
अपने अन्दर चलो।
कठिनाई होगी तो वह भी धीरे-धीरे सरल हो जायगा।"
"करत करत अभ्यास के, जड़ मति होत सुजान।
रसरी आवत जात ते, सिल पर पड़त निशान॥"

कबीर साहब ने कहा है कठिनता की कोई बात नहीं।

"न योगी योग से ध्यावै, न तपसी देह जरवावै।
सहज में ध्यान से पावै, सुरत का खेल जेहि आवै॥"
"सहज ध्यान रहु सहज ध्यान रहु, गुरु के वचन समाई हो।
मेली चित्त चरा चित राखो, रहो दृष्टि लौलाई हो॥"

सन्तों ने सहज ध्यान बताया है। मुझे भी खोजते बहुत दिन हो गये। इसके समान और कोई सरल नहीं है। अन्धकार को पार करो। प्रकाश देखो। प्रकाश आपके अन्दर है। इसका प्रमाण है कि आपकी आखों में रोशनी है। दृष्टि का व्यायाम करो, आँख और पुतली का व्यायाम नहीं। इसका यत्न गुरु से जानो। शब्द वह चीज है, जो सब में व्यापक है। बिना शब्द से सृष्टि नहीं हो सकती। शब्द कम्पमय और कम्प शब्दमय होता है। कम्पनपुञ्ज को सृष्टि कहते हैं। शब्द से सृष्टि का विकास है। शब्द से सृष्टि है। ईश्वर की मौज हुई और सृष्टि हो गई। दादू दयाल जी ने कहा—

"यन्त्र बजाया साजि करि, कारीगर करतार।
पंचौं कारज नाद है, दादू बोलनहार॥
पंच ऊपना शबद थैं, शबद पंच सों होय।
साईं मेरे सब किया, बूझै विरला कोय॥"

कबीर साहब कहते हैं—

"साधो शब्द साधना कीजै।
जेहि शब्द से प्रगट भये सब, सोई शब्द गहि लीजै।
शब्दहि गुरु शब्द सुनि शिष भै, शब्द सो बिरला बूझै।
सोई शिष्य सोइ गुरू महातम, जेहि अन्तर गति सूझै॥
शब्दै वेद पुराण कहत है, शब्दै सब ठहरावै।

शब्दै सुर मुनि सन्त कहत है, शब्द भेद नहिं पावै ।।
शब्दै सुनि सुनि भेष धरत है, शब्द कहै अनुरागी ।
षट दर्शन सब शब्द कहत हैं, शब्द कहै वैरागी ।।
शब्दै माया जग उत्पानी, शब्दै केरि पसारा ।
कहैं कबीर जहँ शब्द होत है, तवन भेद है न्यारा ।।

अन्धकार में भी शब्द पकड़ा जायगा, लेकिन बड़ा झंझट है। इसलिये सन्तों ने प्रकाश का शब्द पकड़ने कहा। शब्द अपने केन्द्र में खींचता है। कुत्ते को पुकारने से वह निकट आ जाता है।

"चुम्बक सत्य शब्द है भाई।
चुम्बक शब्द लोक ले जाई ।।
लेइ निकारि होवै नहिं पीड़ा।
सत्य शब्द जो बसै शरीरा ।।"

—दरिया साहब (बिहार)

यह आधार है। शब्द से सभी दर्जे पार हो जायँगे। यही ऋषि-मुनि का नादानुसन्धान है और साधु-सन्तों ने इसे ही सुरत-शब्दयोग—नाम-भजन कहा है। नाम-भजन केवल वर्णात्मक में ही है—ऐसा नहीं, वर्णात्मक एवं ध्वन्यात्मक दोनों में है।

आपके पास शुच्याचार और सदाचार दोनों होना चाहिये। हमारे देश में बड़े-बड़े शुच्याचारी और सदाचारी हुए हैं। आज तो इन आचारों का इतना पतन हुआ है कि जिसका ठिकाना नहीं। विद्वान बहुत बड़े-बड़े हैं, किन्तु अपने हृदय को देखें कि कितने नीचे गिरे हुए हैं? ईश्वर-भजन से सदाचार को बड़ा सम्बन्ध है। सदाचार आपके हृदय को शान्त बना देगा। आज स्वराज्य है। सदाचार का पालन कीजिये तो सुराज्य हो जायगा। सभी कोई सदाचारी बन जाओ तो एक सिपाही की भी जरूरत नहीं होगी। सभी कोई सदाचारी बन जायें तो चोर-डाकू कोई नहीं हो सकते। पंच पापों—चोरी, जारी, नशा, हिंसा एवं झूठ से बचो। कानून की लाठी खूब चली और टूट गई, लेकिन देश में अत्याचार ज्यों का त्यों बना है। सदाचार का पालन कीजिये तो इहलोक तथा परलोक दोनों में आनन्द से रहिये। धन कमाने के लिये लिये सदाचार पालन करने की कोई जरूरत नहीं होती। जैसे-तैसे धन कमा सकते हैं, किन्तु ईश्वर-भक्ति के लिये सदाचार-पालन अनिवार्य है। इसलिये सबको सदाचार का पालन करना चाहिये और शुच्याचारी भी बनना चाहिये।*

—प्रेषक, संतसेवी।

(पृष्ठ १ का शेषांश)

उसको बंद कर दे। सहज ही सहज इड़ा-पिंगला को **सतोगुण में रखे** + और अनहद वेणु बजावे ।। १ ।। तीनों‡गुणों के मण्डल से ऊपर उठकर अपने को चौथे घर (सत लोक या सच्चिदानंद पद) में रखे तो पाँचों तत्त्वों के पचीस स्वभाव लय हो जायंगे अर्थात् अपने स्वभावों के प्रभाव से साधक को प्रभावित नहीं करेंगे। और ध्यान में विशेष तल्लीनता होने से **नवो नाड़ियों**↑, **बहत्तर कोठे**× और रोम-रोम में ध्वनि की गति विदित होती है ।। २ ।। सद्गुरु कहकर समझाते हैं कि हे गरीबदास! चित्तमल को ज्ञान से पवित्र कर, तब अंतर-ज्योति की अनुभूति होती है ।। ३ ।।

प्रेषक—
"सन्त सेवी"

---

* महर्षि मेँहीँ परमहंस जी महाराज का यह प्रवचन दिनांक ४।१।६१ ई० को बिहार राज्यान्तर्गत छपरा टाउन हाल में हुआ था।

+ आज्ञा चक्र का केन्द्र-बिन्दु—शिवनेत्र—तीसरा तिल, इस तेरहवें मार्ग के द्वार में दृढ़ता के साथ सुरत जमा दे।

‡ तेरहवें मार्ग के द्वार में सुरत के रहने से वह सतोगुण में रहेगी।

↑ नौ नाड़ी को खैंच पवन लै उर में दीजै"

—चरण दास जी।

× "कोठा बहत्तर कहे बखानी। ले लख भीतर जो पहचानी ।।" घट रामायण में इन कोठों के भिन्न-भिन्न नाम हैं।

Satyadeo Sah "Santrenu" VILLA BELABADAN, P. O. PIPARA (PURNEA)

'मोरे जियरा बड़ा अंदेशवा मुसाफिर जैहौं कौनी ओर' —कबीर,

"संतसेवी"

संत कबीर साहब के उपर्युक्त पद्य में तीन बातें विचारणीय हैं। सर्व प्रथम तो यह कि उनके हृदय में चिन्ता लगी हुई है, दूसरी बात यह कि वे सांसारिक जीव को मुसाफिर कहते हैं और तीसरी बात यह कि 'ओर' कहकर उन्होंने संकेत किया है कि किस ओर जाओगे? आइये, इन तीनों बातों पर समास रूप से विचार करें।

संत कबीर साहब एक स्थल पर कहते हैं—

"चाह गई चिन्ता मिटी, मनुआँ बे परवाह।
जिनको कछू न चाहिये, सोई शाहंशाह॥"

एक कहावत भी है कि 'फकर को फिकर क्या?' किन्तु उपर्युक्त पद्य के अध्ययन-मनन करने पर स्वयं उन्हीं की चिन्ता की झाँकी स्पष्ट झलक उठती है। ऐसा क्यों? यह स्वाभाविक प्रश्नोदय होता है।

गो० तुलसीदास जी ने रामचरित मानस में कहा है—

'संत हृदय नवनीत समाना।'

मक्खन बहुत मुलायम और स्वेत वर्ण का होता है। उसमें तनिक सी आँच लगते ही वह द्रवित हो जाता है—पिघल लाता है। संतों का हृदय षट्विकार रहित होने के कारण परिमल—विशुद्ध—श्वेत स्फटिक वर्ण का होता है। साथ ही मुलायम तो इतना कि मक्खन की सादृशता करते हुए भी कवि को लजाते हुए कहना पड़ा—'कहा कविन्ह पै कहइ न जाना।' किसी ने पूछा— ऐसा क्यों? तो उन्होंने कहा—

निज परिताप द्रवइ नवनीता।
पर दुःख द्रवहिं संत सुपुनीता॥"

एक सज्जन ने श्री रामकृष्ण परमहंसदेव जी से पूछा—संत-हृदय कैसा होता है? परमहंस जी ने उत्तर दिया—यह क्या पूछना? बैंगन की तरकारी नहीं खाये हो? जैसा वह मुलायम होता है, उसी तरह संतों का हृदय मुलायम होता है। महात्मा गांधी जी ने संत-असंत की बेर और नारियल की उपमा देते हुए कहा था—दुष्ट का बाहर दिखलावा मुलायम होता है, किन्तु अन्दर कठोर होता है, जैसे—बेर और संत का बाह्य प्रदर्शन कठोर, किन्तु अन्तर मुलायम होता है। साथ ही बिल्कुल शुद्ध—पवित्र और साफ होता है, जैसे नारियल।

एक बार श्री रामकृष्ण परमहंसदेव जी ने भावोद्रेक में अपने शिष्यों से कहा था—'तुम लोगों का हृदय काँच की आलमारी है' अर्थात् जैसे कांच की आलमारी में कुछ भी छुपाकर नहीं रखा जा सकता, वह बाहर से ही प्रत्यक्ष दीखता है। उसी तरह जागतिक जीवों का हृदय किसी भाँति कुछ करके उसे संत-महात्मा के समक्ष छुपाकर रख सकने में सर्वथा अयोग्य है।

अजातशत्रु की जिज्ञासा पर, भगवान बुद्ध ने भी उनसे कहा था—'हे राजन्! जिस प्रकार कोई ऊँचे पहाड़ के शिखर पर खड़ा होकर नीचे बहते हुए निर्मल जल के स्रोत्र की ओर देखे तो उस निर्मल जल के भीतर घोंघा, शंख, कंकड़-पत्थर, कोयला इत्यादि वस्तुएँ जैसी की तैसी साफ दिखाई पड़ती हैं, वैसे ही मुक्त भिक्षु वासनाओं और तृष्णाओं से घिरे हुए जीवों के कष्टों को भी प्रत्यक्ष अनुभव करता है।

संत-महात्मागण प्राणियों के व्यक्ताव्यक्त सभी कर्मों को अपरोक्ष रूप से देखते हैं कि किस कर्म का फल विषमय है, किस कर्म के द्वारा अशांति और अनर्थ उत्पन्न होते हैं, मनुष्य के लिये कौन सा मार्ग दुःख और कंटकमय है, कौन व्यक्ति क्या कर्म कर रहा है और परिणाम में उसे किस-किस प्रकार का फल भोगना पड़ेगा। इसको वह इस प्रकार देखता है, जैसे कोई ऊँचे मकान के ऊपर से नीचे के मनुष्यों को देखता है कि कौन क्या कर रहा है? कहां से आ रहा है? किधर जा रहा है? आदि।

अस्तु! अभिभावक अपनी सन्तान की भविष्य-चिन्ता करते हुए उसकी शिक्षा-दीक्षा की सारी व्यवस्था कर शिक्षित बना उसके भविष्य-भाग्य को समुज्ज्वल बना जागतिक मार्ग प्रशस्त करता है। एक माता अपने प्यारे बच्चों के लिये असह्य यातनाओं—पीड़ाओं एवं कष्टों को झेलती हुई उसका लालन-पालन कर उसे सुखी बनाती है और एक गौ अपने वत्स को प्रेम पूर्वक हिंकार से दुलारती हुई उसे अग्नि, अहि

और अन्धकूपादि से रक्षा करती है, तो फिर संत जिनका स्वभाव ही परोपकार करना है, अपनी संतान—जगत की चिन्ता क्यों न करें ? जगत के जीव जो दैहिक, दैविक और भौतिक, त्रितापतापित हो आकुल हैं—दुःखी हैं—जर्जर हैं, उन्हें देख ये क्यों कर सुखी रह सकते है ? क्योंकि उन्होंने तो 'वसुधैव कुटुम्बकम्' अर्थात् सारी वसुधा को ही अपना कुटुम्ब बना लिया है। साथ ही जब कि 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की दृष्टि से वे अवलोकन करते हैं, तब उनका अपना कौन और पराया कौन ? वहाँ स्व-पर का हिसाब ही नहीं लगता। इसीलिये तो जब भैंस की पीठ पर लाठी मारी गई तो ज्ञानदेव को चोट लगी। इतना ही नहीं, आघात के चिह्न भी स्पष्ट उनकी पीठ पर दिखाई पड़े।

इसलिये वे दूसरों के दुःख से दुःखी 'विश्व उपकार हित् व्यग्र चित सर्वदा त्यक्त मदमन्युकृत पुण्यराशी होकर स्वयं नाना यातनाएँ झेलते हैं। गो० तुलसीदास जी ने बड़ा ही अच्छा कहा है—

"संत सहहिं दुःख परहित लागी।
पर दुःख हेतु असंत अभागी॥
भूरजतरु सम संत कृपाला।
परहित नित सह विपति विशाला॥"

दूसरी बात है कि उपर्युक्त पद्यांश में संत कबीर साहब ने 'मुसाफिर' शब्द का प्रयोग किया है। सामान्यतः 'मुसाफिर' शब्द का अर्थ होता है—यात्री। अर्थात् जिसका स्थिर निवास किसी एक स्थान में हो और वह किसी कार्य विशेष से अन्यत्र कहीं जाकर कार्य-सम्पन्न पर्यन्त वहाँ रहकर पुनः स्वस्थान को लौट आवे।

मानव मात्र—क्या स्त्री और क्या पुरुष, संत कबीर साहब की दृष्टि में पथिक हैं। क्योंकि यह सभी को विदित है कि अमुक व्यक्ति जिसको उसके जन्म से आज पर्यन्त निरन्तर देख रहा हूँ, अभी उसकी आयु जितनी है, इसके पूर्व मैंने उसको कभी देखा नहीं और शरीरायु पर्यन्त वह यहाँ रहकर फिर अदृश्य हो जायगा। तात्पर्य यह कि वह कहीं से आया है, वर्त्तमान है और भविष्य में नहीं रहेगा। इसलिये यह मुसाफिर है। दूसरी दृष्टि से परमात्म अंश जीव इस शरीर रूप नगर में आया है*, अवधि पर्यन्त शरीर में अवस्थित रह पुनः इसका परित्याग कर चला जायगा। जिस भाँति कोई भी यात्री एक नगर वा घर में सतत नहीं रहता, उसी तरह यह जीवात्मा भी सतत एक शरीर में नहीं रहता। इसलिये भी कबीर साहब ने इसको 'मुसाफिर' की संज्ञा दी है।

'ओर' की ओर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि ओर वा तरफ दो है—एक तो इहलौकिक तथा दूसरा पारलौकिक। पारलौकिक को भी हम दो भागों में विभक्त कर सकते हैं—एक स्वर्ग-वैकुण्ठादि परलोक तथा दूसरा मोक्ष। कठोपनिषद् के अनुकूल हम उसे दो मार्ग कह सकते हैं—एक श्रेय और दूसरा प्रेय। श्रेय निवृत्ति मार्ग हैं और प्रेय प्रवृत्ति मार्ग।

"श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ सम्परीत्य विविनक्ति-धीरः।
श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते प्रेयोमन्दोयोगक्षमादवृणीते॥"
(श्लोक २ अ० १ वल्ली २)

गो० तुलसीदास जी के शब्दों में हम कह सकते हैं—

"संत संग अपवर्ग कर, कामी भव कर पंथ।
कहहिं संत कवि कोविद, श्रुति पुराण सद्ग्रंथ॥"
(रामचरित मानस)

यदि हम निवृत्ति मार्ग—मोक्ष मार्ग की ओर चलें, तब तो कहना ही क्या ? तब उनको चिन्ता किस बात की हो ? किंतु हम तो चल रहे हैं—प्रवृत्ति मार्ग—संसार मार्ग—जड़-चेतन की ग्रन्थि को सुदृढ़ करने वाले मार्ग पर। यदि इसे मार्ग नहीं कहकर कुमार्ग ही कहें तो शायद अयोग्य नहीं होगा। उस मार्ग पर चलकर हमारी जो दुर्दशा होती है, वह संतों से छिपी नहीं है।

"एक तो अंधेरी कोठरी जामें दिया न बाती हौ।
बहियाँ पकड़ि जम ले चले कोइ संग न साथी हो॥"

हमारे इस दुर्दिन एवं निस्सहायावस्था को देखकर, हमारे दुःख से दुखित होकर ही वे चिन्ताशील होकर कहते हैं—"मोरे जियरा बड़ा अंदेशवा मुसाफिर जैहौ कौनी ओर"।

---

* सुरति अंश जो जीव घर गुरु गगन वश कंजा भई।
आली गगन धार सवार आई ऐनि वस गो गुण रही॥
सखी ऐन सुरति पैन पावै नोल चढ़ि निर्मल भई।
जब दीप सीप सुधारि सजकै पछिम पट पद में गई॥
जस अलल अंड अकार डारै उलटि घर अपने गई।
यहि भाँति सतगुरु साथ में होकर अली आनंद लई॥

—तुलसी साहब

शान्ति का विवेचन

रामलाल पहाड़ा

पेन्शनर हरिगंज, खण्डवा पूर्वी निमाड़ ।

शान्ताकार, विश्वाधार प्रभु की लीला बड़ी विचित्र है। वे तो शान्ति रखने के उपदेश देते हैं और मनुष्य दिनोंदिन अशान्त होते जा रहे हैं। शान्ति, अनामय पद, परमधाम प्रभु में प्रवेश करना, शाश्वत पद, ब्रह्मनिर्वाण आदि शब्द एक ही आशय को सूचित करते हैं। आरंभ में भगवान् कहते हैं—"सब कामनाओं को छोड़कर निस्पृह, निर्मम, निरहंकार मनुष्य शान्ति पाता है। मृत्युपर्यन्त इस स्थिति में रहने से मनुष्य जीवनोपरान्त ब्रह्मनिर्वाण प्राप्त करता है। परन्तु आजकल मनुष्यों ने कामनाओं को अमर्याद बढ़ा ली है। कामनाओं की पूर्ति न होने से वे अशान्त हो रहे हैं। भगवान् पहिले कह चुके हैं—"कर्मजं बुद्धि युक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः। जन्म बन्ध विनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्"। बुद्धिमान एवं संयमित मनवाले मनुष्य कर्म से उत्पन्न होने वाले फल (लाभ, सुख) को छोड़ देते हैं। वे जन्म के बन्धनों (जन्म, मरण के चक्र) से छूटकर रोगरहित पद (स्थिति) को प्राप्त करते हैं। स्वस्थ मनुष्य ही परम प्रभु की कृपा के पात्र होते हैं, शान्त रहते हैं। मेरे दिव्य जन्म तथा कर्म को ठीक जानने वाला मनुष्य देह छोड़कर पुनर्जन्म नहीं लेता, किन्तु मुझको प्राप्त करता है। मेरे निज रूप में लीन हो जाता है। जो यह जानता है कि मैं (प्रभु) कर्म का फल पाने की इच्छा नहीं रखता, इसलिए कर्म मुझे दूषित नहीं करते, काम करने का दोष मुझे नहीं लगता, वह भी कर्म के बन्धन में नहीं पड़ता। बन्धन में पड़कर अशान्त नहीं होता। वेद में अनेक यज्ञों का वर्णन है। वे सब कर्म से उत्पन्न होते हैं। ज्ञान की महिमा कहकर अन्त में यह समझाया कि मनुष्य श्रद्धा, तत्परता और इन्द्रिय-संयम से शीघ्र ही परम शान्ति को पाता है। जो विषयों से दूर रहकर तथा परम प्रभु का आधार लेकर काम करता है, वह पाप से लिप्त नहीं होता। जैसे कमल का पत्ता पानी में नहीं भींजता, कर्मफल को छोड़कर प्रभु से युक्त मनुष्य नैष्ठिक शान्ति पाता है और कामना रखकर कर्मफल में आसक्त रहने वाला और प्रभु को भूल जाने वाला जन्मबन्धन में फँस जाता है। बुद्धि, आत्मा, निष्ठा प्रभु में लगा कर प्रभुपरायण होकर ज्ञान से पापों को धोने वाले परम गति को पाते हैं। उनका पुनर्जन्म नहीं होता। जो अन्तःकरण में सुखी है, अन्तरात्मा ही में विराम पाता है, आत्मज्ञान से अन्तःकरण को प्रकाशित रखता है, वह ब्रह्मलीन होकर ब्रह्म-निर्वाण प्राप्त करता है। सर्वप्राणियों के हित में रहने वाले निष्पाप होकर ब्रह्मनिर्वाण प्राप्त करते हैं। इन्द्रिय, मन-बुद्धि को संयम में रखने वाले तथा इच्छा, भय, क्रोध की छोड़ने वाले योगी सदा मुक्त ही रहते हैं। परमात्मा को यज्ञ तथा तप का भोक्ता, सब लोकों का शासक और सब प्राणियों का सुहृद (मित्र या सुहृदय) जानकर मनुष्य शान्ति प्राप्त करता है। देहाभिमान छोड़ कर परमात्मा को पाने के लिये साधन करने से मनुष्य को शान्ति मिलती है। निष्पाप ब्रह्मलीन, रजोगुण रहित, शान्त मन वाला उत्तम सुख को पाता है। आत्मा के द्वारा सदा प्रभु का स्मरण करने वाला निष्पाप योगी अनायास ब्रह्म संस्पर्श से होने वाला अत्यन्त सुख प्राप्त करता है। प्रभु का स्मरण करते रहना ही सुख है। देवों को पूजने वाले उन देवों के क्षेत्रों में जाते हैं और मेरे भक्त मुझ में समाते हैं। अन्तकाल में मेरा स्मरण कर जो देह छोड़ते हैं वे मेरे भाव (स्वरूप) को निसंशय प्राप्त करते हैं। एकाक्षर ब्रह्म ॐ का स्मरण कर और मेरा स्मरण रख जो देह छोड़ता है, वह परम गति पाता है। जो मुझको प्राप्त कर शाश्वत दुःखदायक जन्म-मरण के चक्र में नहीं गिरते, वे मनुष्य परमगति को पहुँच जाते हैं। शुक्ल मार्ग (ज्योतिर्मार्ग) से जाने वाले जन्ममरण के चक्र से मुक्त हो जाते तथा कृष्ण मार्ग से प्राण छोड़ने वाले पुनः

हमारा एक महान् दुर्गुण-अभिमान

[ले० अगर चन्द नाहटा]

विश्व में अनेक तरह के प्राणी हैं और प्रत्येक प्राणी में कुछ विशेष गुण या विशेषताएँ होती हैं। और कमियाँ या अवगुण तो सब में है ही। पर मनुष्य दूसरों की अपेक्षा अपने में कुछ अधिक गुण या शक्ति देखते हैं या मन से वैसा मान बैठते हैं कि हमारे में अमुक विशेषता इतने अधिक परिमाण में है, वह दूसरों में नहीं है, तब उसमें अभिमान, अहंकार का भाव प्रवेश करता है। यदि मनुष्य गुण के साथ, जो अपने में कई दोष भी रहे हुए हैं, उनकी ओर नजर डाले, तो अभिमान करने का कोई कारण नहीं रहता और अपने दोष का भान होने पर उसमें नम्रता और लघुता आती है। आखिर सर्वगुण-सम्पन्न तो परमात्मा के सिवाय कोई होता ही नहीं। इसीलिए परमात्मा या महापुरुषों के गुणगान या भक्ति को महत्व दिया गया और प्रत्येक मनुष्य के लिए उसकी आवश्यकता बतलाई गई। इससे मनुष्य के सामने एक बहुत बड़ा आदर्श रहता है कि मेरे से तो ये महापुरुष बहुत अधिक गुणवान हैं। इनके सामने मेरी विशेषताएँ कुछ भी नहीं। फिर भी मैं अभिमान करूँ, तो यह मेरी मूर्खता ही है। उन्होंने अपने अनेक दोषों पर विजय पाई है। अभी मैं तो उन दोषों से भरा पड़ा हूँ। काम, क्रोध, लोभ के पंजे से मुझे छुटकारा नहीं मिला तो मेरा अभिमान निरर्थक है। मंजिल बहुत दूर है। उसके बीच में ही यदि वह रुक जाय तो गन्तव्य स्थल पर नहीं पहुँच सकता। इसी तरह थोड़े से किसी गुण या विशेषता से यदि हम अपने को बड़ा मान बैठें और फूल के कुप्पे बन जायें तो हमारे भावी-विकास का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है, क्योंकि उसमें जो आगे बढ़ने की प्रबल इच्छा होनी चाहिये, अभिमान से उसका अभाव हो जाता है। थोड़ा सा ज्ञान प्राप्त करके यदि मनुष्य अपने को बहुत बड़ा ज्ञानी समझ ले, तो फिर आगे का ज्ञान प्राप्त करने की उसमें प्रबल जिज्ञासा नहीं रह पाती। और जब वैसी इच्छा ही नहीं होती तो उसकी प्राप्ति का प्रयत्न करेगा ही कैसे? इसीलिए ज्ञानादि गुणों की प्राप्ति के लिए विनय या विनम्र भाव को अत्यन्त आवश्यक बतलाया गया है। दूसरे से हम कुछ प्राप्त करना चाहते हैं तो लघुता से और नम्रता से ही उसे प्राप्त कर सकते हैं, अहंकार और अभिमान से नहीं। महाराजा श्रेणिक और एक चंडाल की कथा जैन-ग्रन्थों में आती है—एक चंडाल को कोई विद्या सिद्ध थी, जिससे वह अदृश्य रूप में महाराजा के उद्यान के फल या भोजन को ग्रहण कर लेता था। किसी प्रयोग से उसे पकड़ा गया और महाराजा के सन्मुख उपस्थित करने पर उसे वह विद्या सिखा देने को महाराजा ने कहा। प्राण जाने के भय से उसने सिखाना प्रारम्भ किया, पर महाराजा ने उसे सीख नहीं पाया, क्योंकि वे राजसिंहासन पर अभिमान से बैठे थे। इसलिए विद्या ग्रहण के उपयुक्त विनय का उस समय उनमें अभाव था। तब मंत्री और उनके पुत्र अभयकुमार ने महाराज से कहा कि यदि आपको इससे विद्या लेनी है तो सिंहासन से नीचे उतर कर इसको गुरु और अपने को शिष्य समझें, तभी वह विद्या सिद्ध हो सकेगी और हुआ भी वैसा ही।

अभिमान किसी का नहीं रहा। बड़े-बड़े शक्तिशाली, ज्ञानवान और अनेक तरह की सम्पत्ति या शक्ति की अधिकता वाले व्यक्ति संसार में पैदा हुए और चले गए। जिन्होंने अपनी शक्ति या सम्पत्ति का अभिमान किया, अन्त में प्रकृति ने उन्हें शिक्षा या दण्ड दिया। उनका अभिमान चूर्ण-विचूर्ण हो गया। इसीलिए कहा जाता है कि 'अभिमान तो राजा रावण का भी' नहीं रहा, तू है किस बाग की मूली।" प्रकृति ने सेर की जगह सवा सेर सदा उत्पन्न किया है। इसलिए जिस चीज का जो व्यक्ति अभिमान करता है, उस शक्ति या सम्पत्ति की अधिकता वाले व्यक्ति उन्हें मिल ही जाते हैं और उन दोनों की भिड़न्त या टक्कर होने पर अभिमानी पछाड़ खा जाता है। वैसे प्रकृति ने मनुष्य के अभिमान को चूर्ण करने के लिए और भी अनेक साधन जुटा रखे हैं, जिससे मनुष्य को शिक्षा मिलती रहे कि अभिमान

करना बुरा है। अभिमान करने जैसी कोई बात नहीं है, अभिमान रहेगा नहीं। देखिए, युवावस्था के बाद वृद्ध अवस्था का प्राप्त होना, जन्म के साथ मृत्यु का लगा रहना, सदा एक सी दशा किसी की न रहनी, ये प्रकृति की ओर से मनुष्य को शिक्षा-ग्रहण के लिये उत्तम साधन उपस्थित किये गये हैं। यौवनावस्था में मनुष्य की शक्ति का चरम-विकास होता है और तभी वह मद या अहंकार से अपना भान भूल जाता है। गर्व से उन्मत्त होकर वह इतरा जाता है, अकड़ा जाता है, और दूसरों को तुच्छ मानकर अभिमान धारण करता है, पर थोड़े दिनों बाद ही जब उसकी अवस्था ढलने लगती है तो उसकी शारीरिक शक्ति आदि स्वयं क्षीण होने लगती है। बुद्धि भी काम नहीं देती, हर तरह से वह जिन विशेषताओं के कारण अभिमान करता था, उन विशेषताओं की कमी का वह अनुभव करने लगता है। अभ्यासवश चाहे वह उस समय भी लम्बी-लम्बी डींगें हाँके, पर हृदय के भीतर वह जानता है कि अब वैसी शक्ति उसमें नहीं रही है। उसके सेवक उसका पहले जैसा सम्मान नहीं करते, उसका परिवार भी पूर्ववत् आज्ञा-पालन में तत्पर नहीं रह जाता, उसके रूप और सौंदर्य में भी कमी आ जाती है। अभिमान के कारण वह अपने बहुत से विरोधी या शत्रु बना बैठता है। वे अवसर की ताक में बैठे रहते हैं, जब भी अभिमानी की कुछ क्षीणता का अनुभव करते हैं तो उसपर आक्रमण करके उसका मान-मर्दन कर देते हैं। मान-भंग के कारण उसे दुःख भी बहुत होता है।

इसी तरह मृत्यु भी प्रकृति की ओर से एक महान् शिक्षा दे रही है कि आखिर जिन वस्तु और व्यक्तियों को तुम अपनी मानकर मन में गर्व धारण करते थे, वे सब वस्तुएँ तुम्हें छोड़ जाना होगा, क्योंकि वास्तव में वे तुम्हारी कभी न थीं, न हो सकती हैं। तुमने भ्रम और ममत्ववश अपना मानकर झूठा अभिमान किया है। मरण के समय न शरीर काम देता है, न बुद्धि। न उसे कोई बचा सकता है, न उसकी पीड़ा को कम कर सकता है; न सम्पत्ति ही कुछ काम की है, न कुटुम्ब परिवार, न लाव-लश्कर ही उसे बचाने में समर्थ हो सकता है। सभी तरह से वह असहाय व अशरण हो जाता है।

प्रकृति की तीसरी शिक्षा है, किसी की एक समान स्थिति सदा बनी न रहना। प्रत्येक व्यक्ति इसका अनुभव करता है कि क्षण-क्षण में परिवर्त्तन हो रहा है। जैसा वह कल या कुछ दिनों पहले था, वैसा आज नहीं रहा है। चढ़ती के साथ पड़ती, उन्नति के साथ अवनति लगी हुई ही है। बहुत बार धनी व्यक्ति कंगाल बन जाते हैं, बलशाली व्यक्ति रोगादि से जर्जरित व निर्बल बन जाते हैं, बहुत परिवार वाला व्यक्ति अन्त में अकेला रह जाता है। दुष्काल और विपत्ति का दुःखद अनुभव भी थोड़ा बहुत सभी को जीवन में कभी न कभी करना ही पड़ता है। मस्त व्यक्ति को चिंतायें घेर लेती हैं। बन-जंगल में कभी उसे दाने-दाने और एक बूँद पानी के लिए तरसना पड़ता है। जिस अर्जुन को अपने गाण्डीव का बड़ा भरोसा और अभिमान था, उसी गाण्डीव के रहते हुए एक ऐसा समय भी आता है, जब कि उसके सामने कृष्ण-बनिताओं को दूसरा व्यक्ति लूट के जाता है और वह कुछ नहीं कर पाता।

सोच-सोच रे मूढ़ नर समय बड़ा बलवान।
काला लूटी गोपिका, वही धनुष वही बाण॥

बहुत से महापुरुषों के जीवन में ऐसे करुण और विपत्ति के प्रसंग आये हैं, जिनके स्मरण-मात्र से हृदय में कम्पन हो आता है। यदि उन प्रसंगों को मनुष्य ध्यान में सामने रखे तो उसका अभिमान एक क्षण भर के लिए टिक नहीं पाता।

जब भी हमारे हृदय में अभिमान की रेखा खिंच जाय तो तुरन्त हमें अपने से अधिक शक्ति व सम्पत्ति वाले व्यक्ति का ध्यान कर लेना चाहिये। नहीं तो परमात्मा तो सबसे बड़ा है ही। उसके सामने हम कितनेक क्षुद्र हैं, इसका चिन्तन करते ही हमारा अभिमान काफूर हो जायगा। हम अपने से अल्प शक्ति या सम्पत्ति वाले व्यक्ति को सामने रखते हैं, तभी अपने में उससे अधिकता पाकर अपने में अभिमान होता है। अतः जब अपने से महान् व्यक्तियों को ध्यान में रखेंगे तो अपनी विशेषताएँ हमें बहुत साधारण नजर आने लगेंगी और वह अभिमान की रेखा स्वयं मिट या धुल जायगी।

अभिमान वास्तव में हमारा महान् शत्रु है, जो हमारे

गुणों के विकास को रोकता है और क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष आदि अनेक दुर्गुणों की वृद्धि करता है। अभिमान के साथ क्रोध का घनिष्ट सम्बन्ध है। वास्तव में मनुष्य अपने अहं भाव के कारण ही यह मान बैठता है कि सब व्यक्ति मेरे इच्छानुसार चलें। मैं बड़ा हूँ, धनी हूँ, सत्ताधारी हूँ, अधिक शिक्षित हूँ, तपस्वी हूँ, इसलिए मेरी बात सभी को माननी चाहिये, मेरे कहे अनुसार चलना चाहिये। पर जब दूसरे व्यक्ति इच्छा के कुछ विपरीत करते हैं तो उन पर क्रोध का भाव स्वयं हो जाता है। यदि वह व्यक्ति यह विचारने लगे कि सभी व्यक्तियों में अपना-अपना अहं भाव है, अतः वे मेरे इच्छानुसार ही क्यों चलेंगे? अपने इच्छानुसार चलने का भी तो उन्हें अधिकार है? उनकी अपनी इच्छाएँ और परिस्थितियाँ भी हैं, इसलिए यदि वे मेरी इच्छा के प्रतिकूल करते हैं तो उन्हें मैं बुरा क्यों मानूँ? उन पर क्रोध क्यों करूँ? उनके अहं को ठेस पहुँचा कर उन्हें विवश क्यों करूँ? आखिर मुझे कोई व्यक्ति अपने इच्छानुसार चलाना चाहेगा तो क्या मैं वैसा करने को तैयार हूँ? यदि मुझे दूसरे का क्रोध बुरा लगता है तो मेरा आक्रोश क्या दूसरों को बुरा नहीं लगेगा? यदि व्यक्ति इस सिद्धान्त-सूत्र को सदा ध्यान में रखे कि "आत्मनः प्रतिकूलानि परेषाम् न समाचरेत्" अर्थात् जो व्यवहार मुझे अनुकूल नही लगता, वैसा आचरण मैं दूसरों के साथ भी न करूँ। यदि इस आदर्श वाक्य को अपने हृदय में अंकित कर लिया जाय और एक महान् सिद्धिदायक मंत्र की तरह इसे पुनः पुनः जाप किया जाय तो अवश्य ही विश्व में अशान्ति और दुःख घटते चले जायेंगे। और एक दूसरे का व्यवहार इतना मधुर और सुखद प्रतीत होने लगेगा कि कोई किसी का विरोधी नहीं रहेगा। एक दूसरे को शान्ति और सुख पहुँचाने में अपना अहोभाग्य समझेंगे। अपने किसी भी व्यवहार या प्रवृत्ति से दूसरे को अशान्ति या दुःख न पहुँचे, इसका उसे ध्यान रहेगा।

ईर्ष्या और द्वेष भी प्रधानतया अभिमान के कारण ही होते हैं। अहं भाव वाला व्यक्ति जब दूसरे को अपने से बढ़ाचढ़ा देखता है तो उसके वैभव और शक्ति के प्रति उसके मनमें ईर्ष्या जागृत होती है कि इसे लोग सम्मान देते हैं, मुझे क्यों नहीं? इसके पास अच्छा घर है, धन-सम्पत्ति है, मुझे ऐसा क्यों नहीं मिला? ईर्ष्या से दूसरों की उन्नति देखकर वह जलने लगता और 'येनकेन प्रकारेण' उसे नीचा दिखाने का प्रयत्न करता है। उसकी निन्दा करता है। छिद्रान्वेषी होकर दूसरों को दोष दिखा कर उसे लोगों की दृष्टि में नीचे गिराने का, उसके मान-भंग करने का प्रयत्न करता है। उसकी अवनति और अपयश में उसे हर्ष होता है। और ईर्ष्या से फिर उसके प्रति द्वेष भाव भी धारण करने लगता है।

जैन-ग्रन्थों में भगवती सूत्र बहुत महान् आगम माना जाता है। उसमें १२ वें शतक के ५ वें उद्देश्य में मान के बारह नाम या पर्यायवाची शब्द दिये हैं। १ मान, २ मद, ३ दर्प, (घमंड) ४ स्तम्भ, (नम्र न होना), ५ गर्व (अहंकार) ६ अत्युत् क्रोष (अपने को दूसरों से उत्कर्ष बताना), ७ पर-परिवाद (दूसरे की निन्दा करना), उत्कर्ष (अभिमान पूर्वक समृद्धि प्रकट करना या दूसरे की क्रिया से अपने को उत्कृष्ट बताना), ९ अपकर्ष (अपने से दूसरे को तुच्छ मानना), १० उन्नत (विनय का त्याग कर देना), ११ उन्नाम (वन्दन-योग्य पुरुष की भी वन्दना न करना), १२ दुर्नाम (वन्दना करने के योग्य पुरुष को भी अभिमान पूर्वक बुरी तरह से वन्दना करना।

स्थानांग आदि जैनसूत्रों में आठ या दस प्रकार के मद या अहंकार बतलाते हुए अभिमान के उन स्थानों या कारणों से दूर या बचे रहने का उपदेश दिया गया है। मद ये हैं— १ जाति-मद, २ कुल-मद, ३ बल-मद, ४ श्रुत-मद, (ज्ञान), ५ ऐश्वर्य (सम्पत्ति या समृद्धि) मद, ६ रूप-मद, ७ तप-मद, ८ लब्धि मद।

जैन तीर्थंकरों ने बतलाया है कि जो प्राणी जिस बात का अभिमान करेगा, आगामी भव में वह उस बात की हीनता प्राप्त करेगा। जैसे अभी जाति, कुल, रूप एवं ज्ञानादि का अभिमान करता है, उसे भावी आगामी जीवन में हीन जाति, नीच कुल, और कुरुप तथा ज्ञानरहित, दरिद्री एवं निर्बल अवस्था प्राप्त होगी। स्थानांग आदि सूत्रों में चार प्रकार के मान उपमाओं सहित वर्णित है—

[शेषांश फरवरी अंक में]

सम्पादकीय :—

आत्म-निवेदन-रहस्य

आज भारतीय जनसमाज में "नवधा भक्ति" की कुछ विशेष चर्चा होती रहती है और गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी अपने "रामचरितमानस" में नवधा भक्ति का स्वरूप उपस्थित किया है। किन्तु साधारण जनता में गोस्वामी जी की नवधा भक्ति की अपेक्षा श्री मद्भागवत पुराण में वर्णित भक्ति की विशेष चर्चा की जाती है, क्योंकि इनके बीच में अधिकतर आने वाले धर्मोपदेशक इसी विचार को धारण कर उसे प्रचारित करने वाले हैं। अतः उक्त वर्णित भक्ति का वास्तविक स्वरूप क्या है? इसे ही हम यहाँ उपस्थित कर रहे हैं—

श्रवणं कीर्त्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यं आत्मनिवेदनम्॥

विष्णु का अर्थ है सर्वव्यापी परमात्मा। यदि विष्णु का अर्थ हम किसी लोक विशेष में स्थित या त्रिगुणों में एक गुण यानी सतोगुण का आकारित रूप देव कह कर मानें तो यह विचार परिसीमित होने के कारण सभी के मानने योग्य नहीं है; अतः विष्णु शब्द सर्वव्यापी परमात्मा की ओर ही अभिप्रेत करता है। तो प्रथम भक्ति है परमात्मा के स्वरूप का निरूपण तथा उन्हें पाने की विधि जानने के लिये सन्त—पूर्ण भक्तों के पास जाकर उनकी चर्चा सुनना-सुनते-सुनते जब साधक के मन में परमात्मा के प्रति अनुराग पैदा हो जाता है तो वे स्वभावतया ही उनके गुणों का कीर्त्तन करते हुए बार-बार उनका स्मरण करने लगते हैं। प्रेम बढ़ता ही जाता है और अब साधक के मन में उनके चरणकमल-सेवन करने की अभिलाषा तीव्र हो उठती है, पर यह प्राप्त हो कहाँ? वे दौड़ पड़ते हैं आकुल होकर किसी परम भक्तजनों के पास, किन्तु केवल जाने से ही तो नहीं होगा। अब वह सच्चा भगवद्प्रेमी "राम से अधिक राम कर दासा॥" कह कर उन्हीं सन्त को "कृपा-सिन्धु नर रूप हरि" मान कर उनका पद-सेवन करने लगता है। इस भाँति सन्तों की संगति में रह कर वह नित्य सत्संग-श्रवण करता है, सद्गुरु की नित्य दास्य भाव से अर्चना और वन्दना करता है। "हरि ते अधिक गुरुहि जिय जानी। सकल भाव सेवहिं सनमानी॥" इस तरह सात प्रकार की भक्ति समाप्त होने के उपरान्त सद्गुरु उनकी दास्यता यानी नम्रता भरी सेवा-अर्चना एवं वन्दना से प्रसन्न होकर उन्हें दीक्षा प्रदान करते हैं। दीक्षा प्राप्त करके साधक सही रूप में, युक्तियुक्त विधि से परमात्मा से प्रेम का सम्बन्ध स्थापित करते हैं। सद्गुरु प्रदत्त साधना-विधि से परमात्मा की भक्ति करना ही उनसे सख्य भाव जोड़ना है अर्थात् उन्हें अपना परम प्रेमी बनाना है। यह आठवीं भक्ति है। दीक्षा प्राप्त करके साधक परमात्मा को आत्म-निवेदनम् करने के लिये चलता है। परन्तु आत्मा तो यहाँ संसार में आकर इन्द्रियादिकों से मिल कर अपनी परिशुद्धता को खो बैठी है, अपने स्वरूप को ही भूल गई है। अतः अब आत्मनिवेदन करे तो कैसे?

आध्यात्मिक साधना की सर्वोच्च क्रिया "आत्मविवेदन" भक्ति है। मनुष्य अपने विकास-स्तर के अनुसार तीन भाँति से साधारणतया इस नवधा भक्ति के अनुक्रम को उपयोग में लाते हैं। इन तीनों क्रमों का नामकरण इस भाँति किया जा सकता है—प्रथम प्रतीकोपासना दूसरा सगुणोपासना और तीसरा प्रतीक, सगुण एवं निर्गुण उपासना का वास्तविक मर्म या रहस्य समझ कर पूर्णोपासना।

प्रतीकोपासना में जड़ प्रतिमा के प्रति ही प्रधान आसक्ति होती है। भावुक जन उसे ही भगवान् की सगुण आकृति मान कर उसी के समक्ष श्रवण-कीर्त्तनादि से लेकर आत्म-निवेदन भक्ति की भी इतिश्री मान लेते हैं। गाढ़ प्रेम के कारण कभी-कभी कुछ भक्तों को प्रतिमा के माध्यम से ही सगुण-साकार-लीला के दर्शन हो जाते हैं। परन्तु इससे काम-क्रोधादिक विकारों का विशेष रूप में कभी भी शमन

नहीं होता और न इससे मोक्ष-मार्ग का ही उद्घाटन कभी होता है ।

दूसरी इससे उच्च सगुणोपासना है। इस उपासना में भी भगवद्विग्रह की अर्चना स्वीकृत है, परन्तु सगुणोपासक भक्त प्रतिमा को ही भगवान् नहीं मानता । वह सगुण—साकार के एक बाह्य प्रतीक के रूप में मूर्त्ति-पूजा का समादर करता है, किन्तु उस मूर्त्ति में ही वह आसक्त नहीं हो जाता । वह श्रवणादिक नवों प्रकार की भक्ति सगुण-साकार के साक्षात् दर्शन के हेतु से ही करता है ? प्रगाढ़ प्रेम के कारण ऐसे भक्तों को इन स्थूल आँखों से ही भगवान् के सौन्दर्य्य-मधुर रूपों के दर्शन हो जाते हैं और अति भावुकता के प्रवाह में उनके श्रीचरणों में अपने स्थूल शरीर एवं जाग्रत-चेतना को उस समय न्यौछावर करके वह मान लेता है कि मैंने सदा के लिये अपने आपको भगवद्चरणों में निवेदित कर दिया है। और किसी-किसी की प्रेमाधिक्य-दशा ऐसी प्रगाढ़ हो जाती है कि उसे क्षण-क्षण उस रूप-दर्शन के बिना चैन नहीं पड़ती और वह मधुमयी छबि उसे भासित भी होती रहती है; परन्तु इतना कुछ हो जाने पर भी उसे तृप्ति और शान्ति नहीं मिलती, क्योंकि उनकी चेतन-धारा दशों बाह्य इन्द्रियों एवं चारों अन्तरेन्द्रियों में ही फँसी रहती है। इन चौदहों इन्द्रियों के चंगुलों से छुड़ाने की शक्ति इस साकार-सगुण-दर्शन में नहीं होती । भावुकतावश सगुण-साकार के प्रति अपनी आत्मनिवेदन-भक्ति पूर्ण मान कर भी सन्तोष और शान्ति नहीं मिलती । उदाहरण के लिये सगुण सुभक्ता द्रौपदी को लीजिये, जिसकी पुकार पर श्री कृष्ण भगवान् भोजन-परित्याग कर द्वारिका से दौड़े आये और स्वयं ही वस्त्ररूप बन गये । ऐसी सुभक्ता द्रौपदी को इसके बाद कौन सा कम कष्ट हुआ ? और उसके मन से राग-द्वेष, क्रोध, लोभ, ममता आदि माया के बन्धन में जकड़ने वाले दुर्गुणों की कहाँ समाप्ति हुई ? इसीलिये उसे शान्ति भी नहीं मिली । अतः सगुण-साकार भगवान् की श्रवणादिक भक्ति करने से भी मानव कर्मबन्धन से मुक्ति पाकर भगवान् के निज स्वरूप पुरुषोत्तम को नहीं प्राप्त कर सकते । पुरुषोत्तम पद के प्रथम अक्षर पुरुष या परा प्रकृति की भी उपलब्धि उसे नहीं होती, अतः वे केवल क्षर-पुरुष को—जो सदा परिवर्त्तन होते रहते हैं, उन्हें ही पाकर आवागमन के चक्र में पड़े रहते हैं ।

तीसरी नवधा भक्ति पूर्णोपासना की है । इसमें किसी का बहिष्कार नहीं, वरन् सभी को उचित स्थान और मूल्य दिया जाता है । किसी अवतार, पैगम्बर, ऋषि, योगी, भक्त सद्गुरु एवं सन्त सत्पुरुषों की प्रतिमा या चित्र को उनकी लोककल्याणकारिणी कर्मधारा का स्मरण कर प्रणाम करना, उनकी पुष्पादिकों से अर्चना करना, प्रतिमा या चित्र की आकृति के आधार से उनका मानस ध्यान करना आदि क्रियायें इसमें भी की जाती हैं; परन्तु इन क्रियाओं को पूर्णोपासक भक्त प्रारम्भिक उपासना मानते हैं, जिस प्रकार विद्याध्ययन के प्रथम सभी के लिये अक्षरों का परिचय होना अनिवार्य है । इसी प्रकार अपने चेतन या अपने आप को परमात्मा के चरणों में अर्पित करने के लिये यानी आत्म-निवेदन भक्ति करने के लिये वे ऐसे सद्गुरु की शरण लेते हैं, जिन्होंने परमात्मा को आत्मनिवेदन करने में पूर्णता प्राप्त कर ली है । ऐसे पूर्णोपासक भक्त, अवतार सन्त या सद्गुरु में, कोई भेद नहीं मानते, क्योंकि सत्संग के द्वारा वे परोक्ष रूप में जान लेते हैं कि बाहर के शरीरों के रूप-रंग चाहे जैसे भी हों, परन्तु एक ही परमात्मतत्व की आनन्द-चैतन्य-धारा उनमें निर्बाध रूप से प्रवाहित और प्रकाशित हो रही है । अतः वे नररूप में स्वयं भगवान् ही हैं—भगवान् यानी धर्म वैराग्य, ज्ञान, ऐश्वर्य्य, सम्पत्ति एवं यश की पूर्ण अभिव्यक्ति जिनमें उपस्थित है ।

सन्त-सद्गुरु के निर्देशानुसार पूर्णोपासक भक्त जब सद्-गुरु या अपने इष्टदेव की १—कथा-गुण-श्रवण, सत्संग २—उनका गुण कीर्त्तन ३—उनके गुण-रूप-नाम का स्मरण, ४—उनके चरणों की सेवा—उनकी आज्ञा का पालन, ५—उनकी पूजा-अर्चना ६—वन्दना ७—अपने को उनका दास मान कर सदा-सर्वदा उनकी सेवा में संलग्न रहना—ये सातों भक्ति कर लेता है, तब कभी तो उनके इष्टदेव स्वयं सद्गुरु बन कर उन्हें निज स्वरूप-आत्मस्वरूप या पुरुषोत्तम स्वरूप की प्राप्ति की विधि बतला देते हैं—जैसे समर्थ स्वामी रामदास को भगवान् रामचन्द्र जी ने बतलाया था और कभी सन्त, सद्गुरु, अवतार या पैगम्बर के रूप में उपस्थित रह

कर ऐसे पूर्णोपासक भक्तों को पूर्ण भक्ति की विधि या मार्ग उसे बतलाते रहते हैं। यह पूर्ण भक्ति-भेद-विधि जान कर पूर्णोपासक भक्त परमात्मा की सख्य भक्ति करने लगता है यानी उनसे प्रेम-सम्बन्ध कायम करने के प्रयत्न में लग जाता है। इस प्रकार वह मानस जाप, मानस ध्यान, दृष्टि-साधन और नादानुसन्धान या सुरत-शब्दयोग द्वारा अपनी आत्मा को सभी कल्मषों-आवरणों (स्थूल, सूक्ष्म, कारण और महाकारण) से मुक्त कर एकाकी और निर्मल हो जाता है। इसे कैवल्य अवस्था भी कही जाती है। यह आठवीं भक्ति है। इस अकेलेपन की दशा में रह कर उन्हें परम प्रभु की पुकार—प्रणव-ध्वनि या मुरली का स्वर सुनाई पड़ता है और उससे आकृष्ट होकर वह भक्त, परम पुरुष पुरुषोत्तम के चरणों में जाकर अपना आत्मनिवेदन कर देता है। यही है आत्म-निवेदन-भक्ति का सर्वांगपूर्ण रूप। जब तक जीवात्मा आवरणों से आच्छादित सा घिरा हुआ है, वह इन्द्रियगत विषयों में आसक्त और संश्लिष्ट है तब तक वह शुद्ध नहीं है। ऐसी दशा में रहते हुए ही केवल भावना और विचार से आत्मनिवेदन करना, अशुद्ध, अपूर्ण और वस्तुतः झूठी आत्मनिवेदन-भक्ति है। अपने आप की पहचान और ज्ञान हुए बिना आत्मनिवेदन कैसे हो सकता है? अतः जो सारे आवरणों, कलुष-कल्मषों, मोहासक्तियों, काम-क्रोधादिक दुर्गुणों के रहते हुए ही अपनी आत्मविवेदन वाली भक्ति को पूर्ण मानते हैं—वे या तो भ्रम में हैं या अपना स्वार्थ-साधन करने के लिये मानव-समाज को धोखे में डाले रहने का प्रयत्न करते हैं। अतः सच्चे ज्ञान-पिपासु और खोजी मानव जाति को प्रतिमा-पूजक, सगुणोपासक एवं पूर्णोपासक भक्तों की अतीव सावधानी से जाँच करनी चाहिये, उनके साथ में रहकर उनकी गति-विधि और ज्ञान के उत्कर्ष को जानना चाहिये और तभी अपनी चेतना के उज्ज्वल प्रकाश में उन्हें सद्गुरु के रूप में वरण कर उनके निर्देशानुसार सच्ची और पूरी नवधा भक्ति के पथ पर चल कर आत्म-कल्याण बनाने में लग जाना चाहिये। इस आत्मकल्याण में ही विश्वकल्याण और सर्वकल्याण सन्निहित हैं।

[पृष्ठ ६ का शेषांश]

जन्ममरण के चक्र में गिर जाते हैं। कोई भी योगी इन गतियों को जानकर मोहित नहीं होता। इसलिए संसार में काम करते हुए योगी होने का अभ्यास करना चाहिए। यथार्थ निश्चय कर अनन्य भक्ति द्वारा दुराचारी भी सज्जन होकर शाश्वत शान्ति प्राप्त कर सकता है। क्योंकि मेरे भक्त का कभी नाश नहीं होता। परमात्मा में मन लगाने से और उनका पूजन-यजन करते रहने से मनुष्य अन्त में उनमें समा जाता है। वह तद्रूप होकर शान्त हो जाता है। नियमों का त्याग करने वाला, किसी से बैर न रखने वाला परमात्मा को ही प्राप्त होता है। एक ही परमात्मा के आधार से सब भिन्न प्राणियों का अस्तित्व और विस्तार है। ऐसा जानने वाला स्वयं ब्रह्म रूप हो जाता है। जो मनुष्य मेरी अनन्य भक्ति करता है वह तीन गुणों को पार कर ब्रह्म पाने के योग्य हो जाता है।

मोह, विषयसंग, कामना और सुख-दुःख-द्वन्द्व से मुक्त होने वाले ज्ञानी पुरुष अव्यय पद को पहुँचते हैं, जहाँ से वे पुनः संसार में नहीं आते हैं। अहंकार, बल, दर्प, काम, क्रोध, को छोड़ने वाला मनुष्य भी ब्रह्म होने की योग्यता प्राप्त करता है। मेरे आश्रय से काम करने वाला मेरी कृपा से शाश्वत पद प्राप्त करता है। हृदयस्थित परमात्मा की शरण लेने वाला परम शान्ति और शाश्वत स्थान प्राप्त करता है। एक परमात्मा की शरण लेने से मनुष्य सब पापों से मुक्त हो जाता है।

सत्संग-समाचार

अखिल-भारतीय-सन्तमत के वार्षिक अधिवेशन में आज लगभग दस वर्ष हुए पूज्यपाद महर्षि मेँहीँ परमहंस जी महाराज को अभिनन्दन-ग्रन्थ समर्पण करने का निश्चय किया गया था। वह ग्रन्थ आज अनेक सदात्माओं की उदारता एवं सत्प्रयत्न से करीब ५०० पृष्ठों में मुद्रित हो कर उपस्थित है। इस महान् समर्पण-कार्य को सम्पन्न करने के लिये श्री सम्पूर्णानन्द जी, जो उत्तर प्रदेश के भूतपूर्व प्रधान मन्त्री, समाजवाद, भारतीय संस्कृति एवं वेदान्त के प्रकाण्ड विद्वान तथा सन्त-साधना-पथ के धीर साधक हैं, उन्हीं को अखिल भारतीय सन्तमत-सत्संग-महासभा की ओर से आह्वान किया गया है और उन्होंने पधारने की स्वीकृत दे दी है। सभी अध्यात्मप्रेमी एवं सत्संगी बन्धुओं को आगामी वार्षिक अधिवेशन में उपस्थित होकर अवश्य ही ऐसे महान् सन्त के अभिनन्दन में तन-मन-धन से सहयोग कर आत्मकल्याण का भागी बनना चाहिये।

विनीत—

महर्षि मेँहीँ अभिनन्दन-ग्रन्थसमिति

शान्ति-सन्देश के ग्राहकों के नाम बकाया रकम की तालिका

[गतांक से आगे]

शान्ति-संदेश को उत्तम तथा सुव्यस्थित रूप से चलाने के लिये बकाया चन्दा मनिआर्डर द्वारा यथाशीघ्र भेजने की कृपा करें।

—व्यवस्थापक 'शान्ति-संदेश'

ग्राहक संख्या	नाम एवं पता	१९५५ का बकाया	१९५६-५७ का बकाया	१९५८-५९ का बकाया	१९६० का बकाया	१९६१ का अग्रिम	१९६१ का टोटल बकाया
५२४	श्री जयनारायण प्रसाद जाय-सवाल-टीकापट्टी, पूर्णियाँ	×	×	×	२.५०	४.००	६.५०
५४९	श्री गुरुदेव प्रसाद चौधरी—सहरिया, पूर्णियाँ	×	×	×	३.००	४.००	७.००
५५०	श्री बनारसी दास-औरिया, भागलपुर	×	×	×	×	३.५०	३.५०
५५१	श्री वासुदेव साहु-गायछान्द, संथाल परगना	×	.५०	३.००	४.००	४.००	११.५०
५५३	श्रीधर प्रसाद-सत्संग-आश्रम, कुसापुर, भागलपुर	×	४.५०	३.००	४.००	४.००	१५.५०
५५४	श्री मेघूलाल महतो-हसनगंज, नवादा, पूर्णियाँ	×	×	×	×	३.५०	३.५०
५५५	श्री हरिदास वैद्य-कोदवारा उदयरामपुर, भागलपुर	४.००	४.५०	३.००	४.००	४.००	१९.५०
५५६	श्री तारिणी प्रसाद मंडल-सत्संग आश्रम, कुसापुर, भागलपुर	×	×	३.००	४.००	४.००	११.००
५५७	श्री जगदीश मंडल-कुसापुर, भागलपुर	×	×	×	.५०	४.००	४.५०
५५८	श्री भोलादास-खरकट्टा, पूर्णियाँ	×	×	×	३.६२	४.००	७.६२
५६१	श्रीसियाशरण सिंह-लगमा, दरभंगा	×	×	×	३.६२	४.००	७.६२
५६२	श्रीचंचल सिंह-यादव, काँप, पूर्णियाँ	×	×	.७५	४.००	४.००	८.७५
५६३	श्री उचितलाल सिंह, काँप, पूर्णियाँ	×	×	×	२.५०	४.५०	६.५०

५६४	श्री बनारसी राम दास, खटनै, भागलपुर	×	×	३.००	४.००	४.००	११.००
५६६	श्री चिरंजीवी प्रसाद सिंह, निम्न प्राथमिक विद्यालय कुसापुर भागलपुर	×	×	×	×	४.००	४.००
५६८	श्री तिलायदास, मकदमपुर गोठ बस्ती-सहरसा	×	×	.७५	४.००	४.००	८.७५
५६९	श्री बनवारी सिंह, एकचारी पूरब टोला, भागलपुर	×	.५०	३.००	४.००	४.००	११.५०
५७१	श्री केशव मोहन मंडल, राघोपुर भागलपुर	×	×	×	२.५०	४.००	६.५०
५७५	श्री बुद्धू भगत, फुलवरिया, दार्जिलिंग	×	०.५०	३.००	४.००	४.००	११.५०
५६७	,, सरगुणदास कोदवार, भागलपुर	×	×	×	×	४.००	४.००
५८२	,, बलभद्र प्रसाद सिंह, गोपालपुर भागलपुर	×	×	×	२.५०	४.००	६.५०
५८४	,, महावीर सिंह, रूपसपुर खगहा, पूर्णियाँ	४.००	४.५०	३.००	४.००	४.००	१६.५०
५८५	,, भीमलाल दास सतरामपुर पूर्णियां	×	×	×	×	२.५०	२.५०
५६५	श्री उमाकान्त ठाकुर, स्टाफड्रायवर कलक्ट्रेट नजारत औफिस दुमका	×	.५०	३.००	४.००	४.००	११.५०
६०६	,, जौन पुस्तकालय टाटानगर फौन्ड्री कम्पनी वर्क यूनियन फौन्ड्री पुस्तकालय	×	×	×	४.००	४.००	८.००
५८८	,, नवल किशोर जय किशोर बाजार चौक मुरादाबाद	×	×	×	×	३.५०	३.५०
५८६	,, लाला श्यामलाल बलभद्र दास बाजार चौक, मुरादाबाद	×	×	×	×	३.५०	३.५०
५६०	,, जागो मंडल, कारू मंडल रहीमपुर, मुंगेर	×	×	×	×	३.५०	३.५०
५६१	,, अखिलेश्वर प्रसाद वर्णवाल	×	×	३.००	४.००	४.००	११.००
६०५	डा० श्री नन्दलाल मोदी M. D. खजांची रोड, पटना	×	×	×	×	३.५०	३.५०